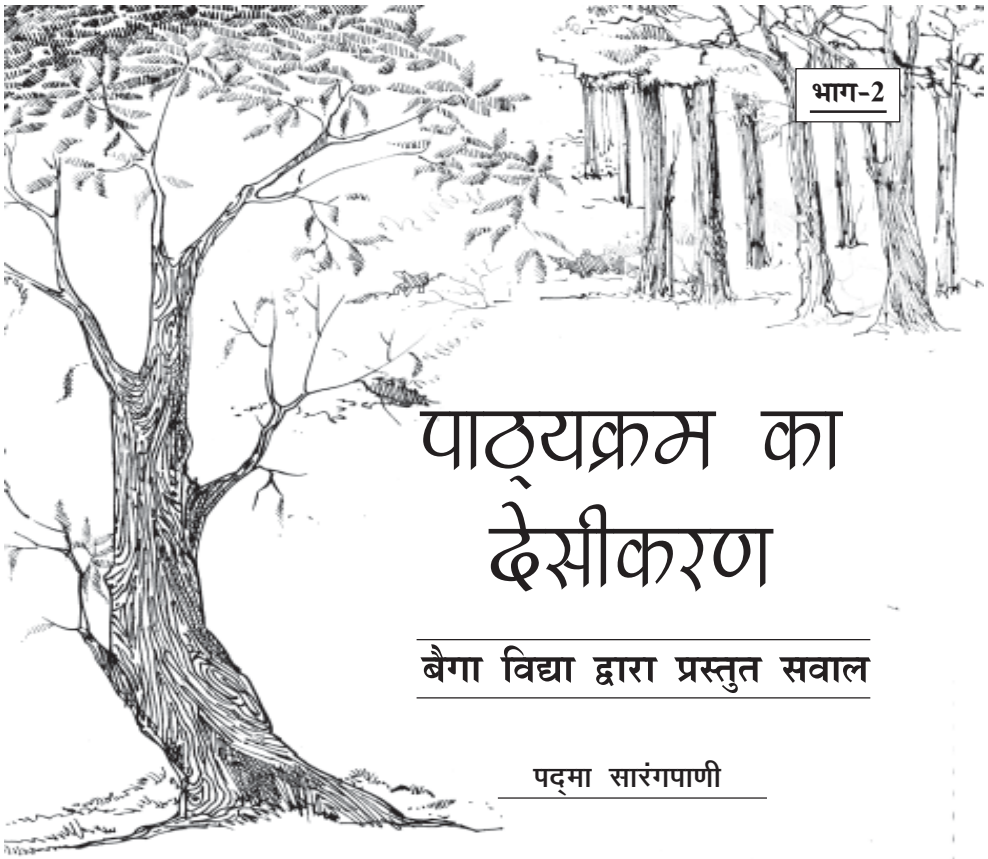

भाग-2

पाठ्यक्रम का देसीकरण

बैगा विद्या द्वारा प्रस्तुत सवाल

पद्मा सारंगपाणी

बैगा एक जनजाति है जो मध्य भारत में निवास करती है। ये लोग जंगलों व चिकित्सा के बारे में अपने व्यापक ज्ञान के लिए मशहूर हैं। इस ज्ञान को जानकार प्रेक्टिशनर (गुरु) द्वारा अपने चेलों या नौसिखियों को हस्तान्तरित करने की यह स्थानीय शैक्षिक परम्परा है। जनजातीय समुदाय में ज्ञान एक सामुदायिक पूँजी है जिसका आदान-प्रदान एक सामाजिक प्रक्रिया। पेड़-पौधों की प्रारम्भिक जानकारी तो ये बच्चे अपने परिवेश से यूँ ही सीख जाते हैं। वहीं जड़ी-बूटी और तंत्र विद्या आदि बच्चे अपने समुदाय के जानकारों के साथ रहकर मौखिक रूप में सीखते हैं। स्कूली शिक्षा में निजी ज्ञान और प्रतिस्पर्धा के भाव निहित हैं।

इसके साथ ही हमारा स्कूली ज्ञान अमूर्त रूप में उनके सामने आता है और वह भी बिना किसी पूर्व सन्दर्भ के। जनजातीय समुदाय के लिए हमारी शिक्षा व्यवस्था के अपने पूर्वाग्रह भी हैं। ऐसे में जनजातीय समुदायिक ज्ञान का शिक्षा में समावेशीकरण एक चुनौती ही होगा।

विद्या सीखना

गुनिया और वैदियों की नैतिक संहिता बैगा को अपनी सेवा के बदले कोई भुगतान स्वीकार करने की अनुमति नहीं देती। विद्या के धनी होने का तकाज़ा होता है कि वे अनुरोध किए जाने पर इसका उपयोग करें। विश्वास यह है कि इन्कार करना खतरनाक होता है। लिहाज़ा, ऐसा लगता नहीं कि सीखने की प्रेरणा धन की लालसा से पैदा होती है। पूछने पर कई बच्चों ने बताया कि उन्होंने कई पेड़-पौधों का उपयोग अपने पिता, माता या बड़े भाई-बहनों से सीखा है। वे याद करते हैं कि किसी मौके पर किसी ने उस पेड़ या पौधे की तरफ इशारा करके बताया था या उस पौधे को इकट्ठा करते समय वे मौजूद थे। मगर इस ज्ञान में यह शामिल नहीं था कि दवाई कैसे बनाई जाती है और किसे दी जा सकती है। इसी प्रकार से, निदान और उपचार के मंत्र तथा विधि-विधान भी आम व अनौपचारिक ज्ञान का भाग नहीं होते। ये तो उन्हीं को पता होते हैं जिन्होंने उसे औपचारिक रूप से सीखा है।

कुछ पुरुषों ने थोड़ी विद्या औपचारिक रूप से सीखने का निर्णय शादी के बाद और बच्चे होने के बाद किया था - वे इसे उपयोगी ज्ञान बताते हैं, प्राथमिक उपचार के समान जिसकी मदद से आप बचपन में बार-बार होने वाली तकलीफों और बीमारियों को सम्भाल सकते हैं। 'लड़के की शादी

हो जाए और बच्चे हो जाएँ, तब उसे भी लगता है कि उसे भी पता होना चाहिए और वह सीखने लगता है' (हरे सिंह)। इसके लिए या तो वे कुछ समय के लिए किसी गुरु के पास गए थे या सुसंगति के ज़रिए हासिल किया था यानी जानकार व्यक्ति के साथ समय बिताकर।

ज़्यादा विशेषज्ञ ज्ञान हासिल करना कुछ ही लोग करते हैं। बाघमारा में मात्र तीन व्यक्ति थे और उनमें से भी मात्र दो को अन्य गाँवों में चिकित्सक के रूप में माना जाता था। हरे सिंह बहुत प्रतिष्ठित हैं मगर उन्होंने बताया कि पास के दलदली गाँव की आश्रम शाला में नौकरी मिलने के बाद उन्होंने यह काम छोड़ दिया है। कसाईकुण्डा में तीन लोग हैं जिनकी अच्छी प्रतिष्ठा है। इन सबने यह विद्या गुरु से सीखी है। मात्र दो मामलों में गुरु कोई निकट रिश्तेदार था - एक मामले में पिता और एक मामले में दादा। जब सीखना शुरू किया था, तब ये सब युवा थे। गुरु ढूँढ़ने के लिए खुद उन्हें पहल करनी पड़ी थी। कसाईकुण्डा और बाघमारा के मुकद्दम और हरे सिंह, जिन तीनों के पास विद्या थी, ने बताया कि विद्या बहुत कठिन है। इसके लिए कठोर परिश्रम और बलिदान की आवश्यकता होती है। विद्या सीखना विद्यार्थी के लिए काफी खर्चीला भी होता है क्योंकि इसके लिए गुरु को महुआ के फूलों से बनी दारू भेंट करना होती है। इसके लिए बहुत धैर्य भी ज़रूरी होता है। अधिकांश गुरु आसानी से या अपनी इच्छा से नहीं सिखाते बल्कि कई बोतल दारू और कई बार चक्कर काटकर उन्हें राज़ी करना पड़ता है।

जो विवरण दिया गया, उससे लगता है कि शिक्षण की प्रक्रिया में काफी धैर्य और प्रतीक्षा की ज़रूरत होती है। यह काफी सुस्त ढंग से चलती है। आम तौर पर दिन भर का कामकाज पूरा करने के बाद इसकी शिक्षा दी जाती है। आराम से बैठकर, किसी एक चेले द्वारा लाई गई दारू पीते हुए, गुरु मंत्रोच्चार सिखाता है और तब तक दोहराता है जब तक कि कण्ठस्थ न हो जाए। मैंने जो कई सारे मंत्र सुने वे स्थानीय बोली में थे, न कि किसी अनजानी विशिष्ट भाषा में। कुछ मंत्र बहुत लम्बे थे और उनमें से कुछ हिस्सा बातचीत की शैली में था*। यह ज़रूरी है कि मंत्रों को अच्छे से याद किया जाए - उन्हें बगैर रुके सुनना और बोलना पड़ता है। जिन पुरुषों से मैंने बात की, उनका दृढ़ विचार था कि उनकी विद्या लिखी नहीं जानी चाहिए। ऐसा माना जाता

** मौखिक विचार और मौखिक संस्कृति की रचनाओं के लक्षण के रूप में बातचीत या संवाद रूप पर काफी कुछ कहा गया है। मंत्रोच्चार में एक लय भी होती थी और एक 'दैहिक घटक' (जैसे सूपड़े में चावल को फटकने में हाथों की गतियाँ या हाथों में छोटी-छोटी डण्डियाँ पकड़ना) होता था। 'भाषा का कर्मकाण्डीय उपयोग' और 'वाचालता' अनुपस्थित थे (ओंग)।*

है कि जिस ज्ञान में आँखों की मध्यस्थता की ज़रूरत हो, वह कम प्रत्यक्ष होता है और इसलिए उतना शुद्ध (पवित्र) नहीं होता जितना कि वह ज्ञान होता है जिसे याद करके बोला जाता है - 'सुमिरन'। पूछने पर उन्होंने यह भी बताया कि उनके गुरु उन्हें एक बार जंगल ले गए थे जहाँ पौधों के नाम और उनके उपयोग बताए थे।

हरेली और दीवाली त्योहारों के बीच की अवधि (लगभग जुलाई से अक्टूबर) सीखने के लिए विशेष रूप से शुभ मानी जाती है। चेला हरेली के दिन 'प्रवेश' करता है और यदि गुरु का आदेश हुआ तो दीवाली के दिन 'निकलता' है। शिष्यवृत्ति की पूरी प्रक्रिया गोपनीयता के पर्दे में चलती है। कौन किससे सीख रहा है इसके बारे में हमेशा यह कहा जाता है कि ऐसा सुना है। शिष्यवृत्ति के दौरान गुरु द्वारा चेले की परीक्षा की धारणा भी है - दो चेलों ने बताया कि उन्हें पारलौकिक शक्ति की परीक्षा दी गई थी। उन्होंने पढ़ाई के अन्त में परीक्षा की बात भी बताई, जिसके बाद उन्हें उत्तीर्ण घोषित किया गया था। उत्तीर्ण घोषित करने का तरीका यह है कि गुरु पीठ थपथपाए और थोड़ी दारू पीने को दे। गुरु के साथ अभ्यास (प्रेक्टिस) करने की कोई अवधि नहीं होती। मगर ऐसा लगता है कि औपचारिक शिक्षण के बाद ऐसे अवसर होते हैं जब चेला निदान और उपचार होते हुए देखता है।

कोई चेला कई गुरुओं से सीख सकता है - ऐसा माना जाता है कि अलग-अलग गुरुओं के पास सिखाने के लिए अलग-अलग विशेषज्ञताएँ हो सकती हैं। उदाहरण के लिए, सर्पदंश का उपचार एक जानी-मानी विशेषज्ञता है। मगर अति-विद्या खतरनाक मानी जाती है। एक गहरा विश्वास है कि यदि आपके पास विद्या है और आप उसका उपयोग नहीं करते, तो यह आपको नुकसान पहुँचा सकता है। इसी प्रकार से, यदि हर वर्ष दीवाली के समय विद्या का सम्मान न किया जाए, तो जानने वाला पागल हो जाता है। हालाँकि, वैदियों और गुनियाओं को कोई भुगतान नहीं मिलता मगर उनकी प्रतिष्ठा काफी अधिक होती है और उन्हें महत्व मिलता है। जड़ी-बूटियों की मदद से इन विशेषज्ञों द्वारा किए गए चमत्कारिक उपचार की बहुत बातें होती हैं। मगर अपेक्षा यह होती है कि ये पुरुष स्वयं विनम्र बने रहेंगे और खुद का ढिंढोरा नहीं पीटेंगे। दरअसल, हरे सिंह को छोड़ दें तो इन लोगों ने कभी सीधे-सीधे मुझे यह नहीं बताया कि उन्हें साधारण से ज़्यादा कुछ पता है। वे काफी रहस्यमय थे मगर उन्हें उनकी विद्या के प्रति मेरे कौतूहल को देखकर थोड़ी खुशी भी हो रही थी।

'विद्या सीखने' के कई पहलुओं का अन्देशा बचपन के समाजीकरण में होता है। शायद सबसे महत्वपूर्ण पहलू सीखने वाले की स्वायत्तता और

पहल लेने की क्षमता में है। सीखने वाले द्वारा पहलकदमी बचपन का एक आम गुण है जहाँ बच्चे पर कभी कुछ करने का दबाव नहीं बनाया जाता बल्कि उन्हें अवसर दिया जाता है कि वे स्वयं पहल करें और चलती हुई गतिविधियों में भागीदारी करें। उतनी ही महत्वपूर्ण बात यह है कि सीखने की रफ्तार सीखने वाले द्वारा तय की जाती है। वे इसका निर्णय अपनी तैयारी को देखकर करते हैं। अधिकांश मामलों में बच्चे किसी गतिविधि से किसी भी समय बाहर जाने का फैसला कर सकते हैं और इसमें किसी के तानों या बदनामी का कोई डर नहीं होता। हरेक व्यक्ति से एक बराबर दक्षता या रुचि की उम्मीद नहीं की जाती। यह भी स्वीकार्य होता है कि अलग-अलग व्यक्ति अलग-अलग स्तर तक सीखेंगे और उसी अनुसार अलग-अलग तरह से कामकाज करेंगे। सीखने का अधिकांश काम किसी उत्पादक कार्य के दौरान व उसके साथ-साथ होता है। अर्थात् काम और खेलकूद, फुरसत और श्रम के बीच सरहदें बहुत धुँधली हैं। सीखने के परिवेश, चाहे परिवार में हो या साथियों के बीच, में दक्षता और कार्य में सहभागिता और प्रत्यक्ष भागीदारी के कई दायरे होते हैं।

दो मामलों में वैदियों ने विद्या तब सीखी थी जब वे लड़के ही थे। यह विद्या उन्होंने अपने रिश्तेदारों से उस समय सीखी थी जब वे उनके लिए काम करते थे। लगता है कि इनके मामले में रिश्तेदार उन्हें सिखाना चाहते थे। यहाँ सम्मान परस्पर था - बच्चे के मन में रिश्तेदार के प्रति और रिश्तेदार के मन में बच्चे के प्रति। कुल मिलाकर, बच्चों और वयस्कों के बीच और स्वयं वयस्कों के बीच ऊँच-नीच से मुक्त रिश्ते बैगा समाज का एक लक्षण है। काफी छुटपन से ही बच्चों की इच्छा का सम्मान किया जाता है, उनकी क्षमताओं को पहचाना जाता है और सराहा जाता है। उम्र का आदर होता है; सियान और सियानिन अर्थात् बुज़ुर्ग पुरुषों और बुज़ुर्ग महिलाओं को बैठकों, उत्सवों और अनुष्ठानों में विशेष स्थान दिया

जाता है। अलबत्ता, इन रिश्तों में न तो दबने का भाव होता है न दादागिरी का। कई कार्रवाइयों के फैसले और अन्य निर्णय सलाह-मशवरे - सलाही - के आधार पर किए जाते हैं। बुज़ुर्ग लोगों की राय ली जाती है मगर युवा लोग भी बोलते हैं। सभी लोग थोड़ा बोलते हैं और बहुत सोच-समझकर, हिचक के साथ और हल्के-फुल्के हास्य के साथ बोलते हैं।

विद्यार्थी अपने गुरु के साथ जंगल का भ्रमण शायद एक-दो बार ही करते हैं। जंगल में संक्षिप्त-सा भ्रमण यह मानकर किया जाता है कि आसपास के वनस्पति जगत से एक मोटा-मोटा परिचय तो है ही, और ऐसा मानना शायद गलत भी नहीं है। बहुत छोटी उम्र से ही बच्चों में जंगल को लेकर जागरूकता दिखाई देती है। सर्वप्रथम तो जंगल खाने योग्य चीज़ों की धरती है और ऐसी चीज़ों से भरी है जो मानव दिलचस्पी की हैं - उपयोगी पेड़-पौधे, जड़ें एवं फल, खाने योग्य जानवर, पौधे और कीड़े व जन्तुओं के दर्शनीय क्रियाकलाप जो शायद डरने और सचेत रहने के सबब भी हैं। उन्हें कई पौधों और कीड़ों के नाम काफी बारीकी से मालूम थे। जैसे, कोइलाड और कचनार दो पेड़ों के नाम हैं जो बाकी सब मामलों में हूबहू एक जैसे होते हैं मगर यह अन्तर होता है कि कोइलाड की पत्तियाँ खाने योग्य होती हैं जबकि कचनार की नहीं। इसी प्रकार से अधिकांश बैगा लोग दो प्रकार के बाँसों में भेद कर पाते हैं, मगर कुछ लोग पाँच प्रकार जानते हैं।

स्कूल और स्कूल से बाहर

मैंने जिन लक्षणों का वर्णन किया है, वे ओंग और गुडी द्वारा तथा एक शैक्षणिक परिप्रेक्ष्य में टीसडेल और आइकमैन द्वारा वर्णित मौखिक संस्कृतियों में ज्ञान-सम्बन्धी गति-विधियों के समान ही हैं। इनमें विचार और गतिविधि का सन्दर्भ में अन्तःस्थापित होना, विचारों का विश्लेषणात्मक श्रेणीकरण की बजाय समेकित व योगशील (aggregative and cumulative) संगठन, अमूर्त शिक्षण कार्य की बजाय वास्तविक काम करके सीखना शामिल हैं। यह गौरतलब है कि बैगा अपेक्षाकृत औपचारिक सीखने यानी मंत्र सीखने की एक अवधि को मान्य करते हैं। मौखिक समुदायों की तथाकथित 'रूढ़िवादिता' के अवलोकन के विपरीत यहाँ मौखिक रूप से प्रसारित व याद करने वाले पवित्र ज्ञान की वास्तविक विषयवस्तु और स्वरूप को लेकर काफी सोचा-समझा लचीलापन है। एक से अधिक गुनिया ने कहा कि विभिन्न लोगों को ज्ञात 'चर्चा' (यानी पवित्र ज्ञान और मंत्र) मूलतः एक समान हैं, मगर कुछ अन्तर हो सकते हैं क्योंकि आखिरकार यह 'बात-कहा' (यानी कहा जाने वाला) है और बदल सकता है। यह उन अन्य भारतीय समुदायों के रूढ़िवाद से भिन्न है जिनमें लिखित ज्ञान (शास्त्रिक ज्ञान) को मौखिक रूप से

प्रसारित करने की परम्परा है, जहाँ इस बात के विस्तृत उपाय लागू किए गए हैं कि कहीं कोई विकृति न आने पाए (वैदिक शिक्षा की बारीकियों को जानने के लिए देखें मुखर्जी और नरसिंहन)। खामोशी की सहजता, चाहे अकेले में हो या जब दो गुनिया एक साथ किसी मरीज़ का इलाज करने के लिए आएँ तब हो, बैगा मिज़ाज का एक अनिवार्य गुण है कि वे कुछ न कहकर या कुछ न कहने की ज़रूरत के समय सहज रहते हैं।

इसके साथ ही हमें अन्य गुणों को भी पहचानना होगा जो जीवन-निर्वाह स्तर की अर्थ-व्यवस्था से जुड़े हैं। एक है कि बचपन (शैशव के बाद की अवस्था) को वयस्कपन से अलग करके नहीं देखा जाता। जहाँ बच्चों को काफी कम उम्र से ही उत्पादक काम में जोड़ा जाता है, वहीं वयस्क लोग खिलन्दड़ी लड़कपन से लैस होते हैं। दूसरा है, समाज का ऊँच-नीच से मुक्त और परिवार का गैर-तानाशाही पूर्ण ढाँचा। बच्चों की इच्छा और पहल की स्वीकार्यता एक ऐसी उत्पादन प्रक्रिया से जुड़ी है जिसमें बच्चों के श्रम का मूल्य है और उसका महत्व समझा जाता है।

आधुनिक स्कूल संस्था ज्ञान की प्रकृति, सीखने और बचपन को लेकर अलग मान्यताओं पर टिकी है। आधुनिक स्कूल की बुनियाद साक्षर परम्परा में है और यह ज्ञान को अनिवार्य रूप 'सन्दर्भ से बाहर' प्रस्तुत करती है, जिसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया जा सकता। स्कूल वास्तविक विश्व पर नहीं बल्कि 'विश्व के मॉडल' पर क्रिया करना सिखाता है। इसके लिए बारीकियों और अन्तर्सम्बम्धों की स्पष्ट पहचान की मांग करता है। यह ज़रूरी होता है कि चीज़ों के सारे पहलुओं, प्रत्यक्ष रूप से ज़ाहिर पहलुओं तक, की बात की जाए, तभी उन्हें समझने, विश्लेषण और विचार के योग्य बनाया जा सकता है। नरसिहंन का सुझाव है कि यही स्कूल से प्राप्त ज्ञान की प्रमुख शक्ति भी है। यह स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है और इसे व्यापक रूप से उपयोग किया जा सकता है क्योंकि यह विश्लेषणात्मक, सटीक और अमूर्त होता है। लाइबेरिया में साक्षरता के स्वरूपों पर अपने अध्ययन में कोल व स्क्रिबनर

ने बताया है कि स्कूली शिक्षा का सबसे गोचर व अविवादित परिणाम यह हुआ है कि इससे कृत्रिम रूप से निर्मित परिस्थितियों में व्याख्यात्मक चर्चा की क्षमता मज़बूत हुई है। यह भी देखा गया कि गैर-स्कूली लोगों की अपेक्षा स्कूली शिक्षा प्राप्त लोग सिलॉजिस्म तर्क (एक प्रकार का तर्क जिसमें दो मान्यताओं के आधार पर कोई निष्कर्ष निकाला जाता है) का ज़्यादा उपयोग करते हैं। स्टिंग बताते हैं कि साक्षरता व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को भी बदल देती है और व्यक्तिनिष्ठता में एक परिवर्तन पैदा करती है। हालाँकि, साक्षरता का ढाँचा स्वयं सामाजिक कानूनों और सांस्कृतिक परम्पराओं से बँधा होता है मगर ये व्यक्ति का सम्पूर्ण निर्धारण नहीं करते, व्यक्ति का समीक्षात्मक अलगाव और स्वायत्तता बरकरार रखते हैं। 'उसका सामाजिक व सांस्कृतिक अंगीकरण उसके अपने प्रोसेसिंग और मध्यस्थता पर निर्भर करता है।' यह सही है कि लेखन से ज्ञान के सामाजिक भण्डार को स्थायी रूप से जड़ कर देने की गुंजाइश बनती है, जो विशिष्ट स्थितियों, व्यक्तियों से परे हो और अमूर्त, व्यवस्थित और सिद्धान्ततः आम तौर पर सुगम हो, मगर यह किसी व्यक्ति (जानने वाले) और लिखित संग्रहित ज्ञान के बीच एक खाई भी पैदा कर देता है।

साक्षर विश्व का सामाजिक व सांस्कृतिक क्षितिज परस्पर व्याप्त

व्यक्तिनिष्ठताओं से बना होने के चलते, खण्डित और बहुलतापूर्ण होता है। बोण्डो हाइलैण्डर आदिवासियों के अपने अध्ययन में बिक्रम नंदा ने पाया कि स्कूल न सिर्फ भौतिक अतिशेष (सरप्लस) मानकर चलता है बल्कि एक सांकेतिक अतिशेष भी मानकर चलता हैः 'स्कूल का पाठ्यक्रम जाने-अनजाने में उन लोगों के लिए बचपन की एक अवधारणा लेकर चलता है, जिन्हें उस पाठ्यक्रम का उपभोग करना है। मगर किसी जीवन-निर्वाह स्तर की उत्पादन प्रणाली में बचपन जीवन की एक अलग-थलग अवस्था नहीं होती'। इसके अलावा, औपचारिक स्कूल की शिक्षण पद्धति में एक अथॉरिटी निहित होती है। सीखना भी निजी और प्रतिस्पर्धात्मक होता है।

इन दो परस्पर विपरीत तस्वीरों को प्रस्तुत करने का उद्देश्य औपचारिक शिक्षा पर हल्ला बोलना नहीं है। सीखने की 'सन्दर्भ से परे' प्रकृति या शिक्षण विधि की अथॉरिटी जैसे लक्षणों पर गौर करते हुए यह भी देखना चाहिए कि ये औपचारिक स्कूल नामक संस्था की 'समस्या' नहीं है बल्कि यह तो उसकी बुनियाद का चरित्र है और यही है जो उसे आधुनिकीकरण की एक संस्था बनाता है और आधुनिक विश्व के अनुकूल बनाता है। यह बात उस ज्ञान की अवधारणा में, जिस पर वह टिका है, उत्पादन की दुनिया से उसके रिश्ते में, और बचपन की प्रकृति, जिसे वह मानकर चलता है और जिस पर वह आधारित है, में निहित है। हम यह मानने को विवश हैं कि मौखिक, जीवन-निर्वाह स्तर के बैगा समुदाय के बच्चों के परिवेश और स्कूल के बीच एक गहरा अलगाव है।

यह भिन्नता प्रस्तुत करने का मेरा उद्देश्य यह दर्शाना है कि बैगा ज्ञान परम्परा, कम-से-कम अपने वर्तमान रूप में, आधुनिक स्कूल संस्था में जीवित नहीं रह सकती। उद्देश्य तालमेल बनाने के सम्भावित बिन्दु खोजना नहीं है। आप चाहें तो बैगा ज्ञान के आधार पर ऐसे सीखने के कार्य बना सकते हैं जिन्हें स्कूल में लाया जा सके। उदाहरण के लिए, सजीव-वर्गीकरण या हर्बेरियम बनाने जैसे कार्य। मगर यह तो किसी जीवन्त गतिशील संस्कृति में पेड़-पौधे को देखने के ढंग का सरलीकरण व मामूलीकरण होगा कि हरेक पौधे को एक वस्तु में तबदील कर दिया, जिसका अवलोकन व चर्चा की जा सके या उसे ऐसे गुण प्रदान कर दिए जाएँ जो बैगा प्रणाली में दिलचस्पी के विषय ही न हों और शायद ध्यान भटकाने वाले हों। मंत्र और श्लोक आदि को लिखा गया तो वे शायद बचेंगे नहीं और शायद अपनी पवित्रता खो देंगे क्योंकि लेखन की तकनीक हर चीज़ के 'सन्दर्भ से परे' तहकीकात को सम्भव बना देती है। अध्ययन की वस्तु में तबदील हो जाने के परिणाम तो और भी घातक हो सकते हैं। मसलन, सोचिए कि आपको जादू-टोने पर आधारित किसी पाठ्य वस्तु से सम्बन्धित बोधगम्यता (comprehension) के सवालों के जवाब देने हैं। यह स्पष्ट नहीं है कि जो लचीलापन, पहलकदमी और साथियों से अन्तर्क्रिया विद्या के ज्ञान में गुँथी हुई है और जो बच्चे के परिवेश में विद्यमान है, को एक ऐसी संस्था में फिर से पाया जा सकता है जिसमें शैक्षिक अथॉरिटी केन्द्रीय चीज़ है। दूसरी ओर, विद्या सीखने के लिए ज़रूरी अनुशासन सीखने वाले पर एक प्रेक्टिशनर के तौर पर कहीं ज़्यादा ज़िम्मेदारी डालता है, जो औपचारिक स्कूल पैदा नहीं करता। ज़ाहिर है, इस देशज ज्ञान को स्कूल की साक्षर संस्कृति के अनुकूल पुनर्निर्मित करने के लिए ज़रूरी होगा कि उस ज्ञान की विषयवस्तु, स्वरूप और उपयोग के बारे में कहीं ज़्यादा

जानकारी हो[**]।

मैं यह बात सिर्फ आदिवासी समुदायों के देशज ज्ञान के सन्दर्भ में नहीं, बल्कि साक्षर शास्त्रिक ज्ञान प्रणालियों के सन्दर्भ में भी कह रही हूँ। ज्योतिष को विश्वविद्यालय के एक कोर्स के रूप में शामिल करना शायद ज्योतिष ज्ञान के लिए घातक साबित हो क्योंकि अब यह, आधुनिक संस्थाओं के ज्ञान-शास्त्रीय तौर-तरीकों के चलते, स्वयं उस ज्ञान के प्रति एक नए स्तर की जागरूकता के लिए खुल जाएगा। पाठ्य सामग्रियों, बोधगम्यता, सवालों और परीक्षा के ज़रिए ज्ञान का नए किस्म का वस्तुकरण इसका हिस्सा है[***]।

देशज ज्ञान प्रणालियों का अस्तित्व शायद ज़्यादा सुनिश्चित रहेगा यदि उन्हें औपचारिक आधुनिक शिक्षा तंत्र के दायरे से बाहर रखा जाए।

** *औपचारिक सीखने की ज़रूरतों के एक एहसास का एक परिणाम यह भी होता है कि देशज संस्कृतियाँ ऐसे नए उत्पादों का आविष्कार करने लगती हैं जो उन्हें लगता है कि 'आधुनिक' सन्दर्भों में ज़्यादा उपयुक्त या योग्य हैं। कृष्ण कुमार की दलील है कि हिन्दी साक्षर परम्परा में 'निबन्ध' की विधा ब्रिटिश औपनिवेशिक शिक्षा तंत्र में हिन्दी को स्कूल में अध्ययन के एक विषय के रूप में सम्मिलित करने के उपरान्त पैदा हुई ज़रूरत के जवाब में आई थी। तमिलनाडु के साक्षरता अभियान से जुड़े एक मित्र ने देखा था कि जब उन्होंने नव साक्षर महिलाओं के लिए अपनी पारम्परिक चित्रकला की प्रतियोगिता आयोजित की, तब महिलाओं ने अपने पारम्परिक पैटर्न की बजाय साक्षरता के नारों से जुड़े चित्र बनाए थे।*

*** *कृष्ण कुमार ने हाल ही में मुझे बताया था कि ज्योतिष को भारतीय विश्वविद्यालयों में एक विषय के रूप में शामिल करने की गर्मागरम बहसों में ज्ञान-शास्त्रीय आयाम पर बात नहीं हुई।*

पद्मा सारंगपाणी: भौतिक शास्त्र में एम.एससी. और शिक्षा में पीएच.डी.। नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज़, बैंगलोर और टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल सांइसिस, मुम्बई में प्रोफेसर रही हैं। पिछले दशक से उनकी विशेषज्ञता और शोध कुछ खास क्षेत्रों में रहे हैं जैसे गुणवत्ता और शिक्षा, शिक्षक, पढ़ाना और शिक्षक शास्त्र, पाठ्यक्रम शिक्षा, देसी ज्ञान और गैर-स्कूली हालातों में ज्ञान का संचार व प्रारम्भिक शिक्षा। इन्दिरा गाँधी मेमोरियल फैलोशिप के सहारे उन्होंने वह शोध किया जिस पर यह लेख आधारित है।

अँग्रेज़ी से अनुवाद: सुशील जोशी: एकलव्य द्वारा संचालित स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं। विज्ञान शिक्षण व लेखन में गहरी रुचि।

सभी चित्र: सौम्या शुक्ला: सेंट जोसफ कॉन्वेंट स्कूल, भोपाल से हाल ही में 12वीं की परीक्षा उत्तीर्ण की है। स्वतंत्र रूप से चित्रकारी करती हैं।

यह लेख 'कम्पैरेटिव एजुकेशन' पत्रिका के अंक 39 (नं 2), पृष्ठ 119-209 में कारफैक्स पब्लिशिंग द्वारा छापा गया था।

लेख में ज़िक्र सन्दर्भों की पूरी सूची के लिए मूल लेख देखें।